औपनिवेशिक दौर में भाषा-संबंधी विमर्श और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

सर्वेश कुमार
शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय MO. 9999354211

शोध सार:- औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा से संबंधित विमर्श और उसके जातीय स्वरूप के निर्माण में अनेक ऐतिहासिक घटनाओं, संस्थाओं तथा प्रमुख व्यक्तित्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस भाषायी विमर्श को दिशा देने वाले प्रमुख चिंतकों और साहित्यकारों में राजा लक्ष्मण सिंह, सर सैयद अहमद ख़ाँ, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके मंडल का विशेष स्थान है। इन व्यक्तित्वों ने भाषा, लिपि, शिक्षा, साहित्य और सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़े प्रश्नों पर अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए, जिनसे हिंदी-उर्दू विवाद तथा हिंदी के स्वतंत्र भाषायी स्वरूप के निर्माण की प्रक्रिया प्रभावित हुई। इनमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। उन्होंने अपने साहित्य, पत्रकारिता और सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से हिंदी भाषा के विकास, प्रसार और प्रतिष्ठा के लिए सक्रिय प्रयास किए। वे मातृभाषा को सामाजिक उन्नति, राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक आत्मबोध का प्रमुख आधार मानते थे। 'निज भाषा' के प्रति उनका आग्रह केवल भाषायी शुद्धता तक सीमित नहीं था, बल्कि वह औपनिवेशिक शासन के बीच भारतीय समाज की अस्मिता, स्वाभिमान और आधुनिक चेतना के निर्माण से भी जुड़ा हुआ था। प्रस्तुत आलेख में औपनिवेशिक दौर के भाषा-संबंधी विमर्श की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए भारतेन्दु हरिश्चंद्र की भाषायी दृष्टि, साहित्यिक भूमिका और हिंदी के जातीय स्वरूप के निर्माण में उनके योगदान का अध्ययन किया गया है।

प्रमुख शब्द:- उपनिवेश, भाषा विमर्श, बाइबिल, आर्य समाज, निज भाषा |

औपनिवेशिक भारत के भाषा-संबंधी विमर्श पर विचार करते समय उसके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और जातीय स्वरूप के अनेक स्तर दिखाई देते हैं। यह विमर्श केवल हिंदी, उर्दू, फारसी अथवा अंग्रेजी में से किसी एक भाषा के प्रयोग या साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं था, बल्कि इसके भीतर सत्ता, प्रशासन, शिक्षा, धर्म-प्रचार, जातीय अस्मिता, सांप्रदायिक पहचान और राष्ट्रीय चेतना से जुड़े अनेक प्रश्न सक्रिय थे। औपनिवेशिक शासन ने भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम न मानकर शासन-संचालन और सामाजिक नियंत्रण के एक प्रभावशाली उपकरण के रूप में प्रयोग किया। परिणामतः भाषा का प्रश्न धीरे-धीरे सांस्कृतिक और राजनीतिक अधिकार के प्रश्न में परिवर्तित होता गया। इस भाषा-विमर्श की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रशासनिक आवश्यकताएँ, फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ, फारसी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को प्रशासनिक कामकाज में स्थान देने की नीति तथा हिंदी-उर्दू विवाद जैसी घटनाएँ प्रमुख थीं। दूसरी ओर सर सैयद अहमद खान, राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और भारतेन्दु मंडल से जुड़े साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग से इस विमर्श को प्रभावित किया। इन विचारकों की भाषा-दृष्टि में तत्कालीन समाज के धार्मिक, जातीय, शैक्षिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों की स्पष्ट अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इन सभी के मध्य भारतेन्दु हरिश्चंद्र का महत्त्व इसलिए विशेष है कि उन्होंने भाषा के प्रश्न पर किसी एक अतिवादी मत को स्वीकार करने के स्थान पर जनोन्मुख और समन्वयकारी दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने हिंदी को न तो संस्कृत का कृत्रिम रूप बनाने का समर्थन किया और न उसे अरबी-फारसी शब्दावली से अत्यधिक बोझिल करने का। उनके लिए साहित्यिक भाषा वही हो सकती थी जो सामान्य जनता के व्यवहार, अनुभव और भावाभिव्यक्ति से संबद्ध हो। इस प्रकार भारतेन्दु का भाषा-चिंतन औपनिवेशिक दौर के भाषा-विवाद के बीच एक महत्त्वपूर्ण मध्य मार्ग प्रस्तुत करता है।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के राजनीतिक और साम्राज्यवादी विस्तार के साथ ही अंग्रेज अधिकारियों के लिए यहाँ की भाषाओं, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक व्यवहारों को समझना आवश्यक हो गया था। कंपनी के कर्मचारियों को स्थानीय जनता से संपर्क स्थापित करने, राजस्व वसूलने, न्यायिक व्यवस्था संचालित करने और प्रशासनिक आदेश लागू करने के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान चाहिए था। इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से सन् 1800 ईस्वी में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई। फोर्ट विलियम कॉलेज के माध्यम से भारतीय भाषाओं के अध्ययन, शिक्षण, अनुवाद और पाठ्य-पुस्तक निर्माण को संस्थागत आधार प्राप्त हुआ। कॉलेज से संबद्ध विद्वानों ने हिंदी, हिंदुस्तानी, उर्दू, बंगला और अन्य भारतीय भाषाओं में अनेक ग्रंथों की रचना तथा अनुवाद का कार्य किया। यद्यपि इस गतिविधि का मूल उद्देश्य भारतीय भाषाओं का स्वतंत्र विकास नहीं, बल्कि औपनिवेशिक प्रशासन की सुविधा था, फिर भी इसके परिणामस्वरूप हिंदी गद्य के विकास को गति मिली। कॉलेज के प्रमुख भाषा-अध्यापक जॉन गिलक्राइस्ट का झुकाव उस भाषा-रूप की ओर था जिसे हिंदुस्तानी अथवा उर्दू के निकट माना जाता था। दूसरी ओर उत्तर भारत के विशाल जनसमुदाय में हिंदी के विभिन्न लोकप्रचलित रूपों का व्यवहार बना हुआ था। औपनिवेशिक सत्ता और जनता के भाषाई व्यवहार के बीच यह अंतर आगे चलकर हिंदी-उर्दू विवाद की पृष्ठभूमि तैयार करने वाला सिद्ध हुआ।

औपनिवेशिक काल में ईसाई धर्मप्रचारकों ने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि सामान्य जनता तक पहुँचने के लिए उसकी बोलचाल की भाषा को अपनाना आवश्यक है। फारसी, संस्कृत अथवा अत्यधिक अभिजात भाषा के माध्यम से ग्रामीण और निम्नवर्गीय जनता से सीधा संवाद स्थापित करना संभव नहीं था। फलतः मिशनरियों ने लोकप्रचलित हिंदी को अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया। मिशनरियों ने अनेक स्थानों पर पाठशालाएँ स्थापित कीं, हिंदी में धार्मिक और शिक्षाप्रद पुस्तकों की रचना की तथा बाइबिल के विभिन्न अंशों का हिंदी में अनुवाद कराया। उनके प्रयासों का प्राथमिक उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था, किंतु इसके साथ ही हिंदी गद्य के प्रसार, परिष्कार और मानकीकरण की प्रक्रिया को भी बल मिला। धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त शिक्षा, नीति, नैतिकता और सामान्य ज्ञान से संबंधित सामग्री भी हिंदी में तैयार की गई। मिशनरियों की गतिविधियों के कारण हिंदी मुद्रण, अनुवाद और पाठ्य-पुस्तक निर्माण की भाषा के रूप में विकसित हुई। इस प्रक्रिया में हिंदी गद्य ने बोलचाल के निकट, सरल और संप्रेषणीय स्वरूप ग्रहण किया। इस प्रकार धर्म-प्रचार के औपनिवेशिक और धार्मिक उद्देश्यों के समानांतर हिंदी गद्य के विकास की एक

अनपेक्षित किंतु महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया भी संचालित हुई। औपनिवेशिक शासन से पूर्व उत्तर भारत में न्याय और प्रशासन की प्रमुख भाषा फारसी थी। कंपनी शासन ने अपनी प्रशासनिक सुविधा और राजनीतिक हितों के अनुसार इस व्यवस्था में परिवर्तन किया। फारसी के स्थान पर भारतीय भाषाओं को प्रशासनिक कार्यों में स्थान देने की प्रक्रिया ने भाषा-संबंधी विवाद को नया रूप प्रदान किया। उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू को सरकारी संरक्षण मिलने से हिंदी और उर्दू के समर्थकों के बीच तनाव बढ़ा। भाषा का यह विवाद केवल लिपि अथवा शब्दावली का विवाद नहीं रहा। धीरे-धीरे हिंदी को हिंदुओं और उर्दू को मुसलमानों की भाषा के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। भाषाओं को धार्मिक समुदायों से जोड़ने की इस प्रवृत्ति ने भाषाई भिन्नता को सांप्रदायिक पहचान के रूप में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गार्सा द तासी ने इस दृष्टिकोण को अत्यंत स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए कहा था— **"हिंदी, हिंदू धर्म की प्रतीक है लेकिन उर्दू, मुसलमानों की भाषा है जो बाइबिल को मान देते हैं। उनका मत ईसाई मत से मिलता-जुलता है।"**

इस कथन में हिंदी और उर्दू को दो अलग धार्मिक समुदायों से संबद्ध करने की औपनिवेशिक मानसिकता दिखाई देती है। भाषा की संरचना, लोकव्यवहार और साझा सांस्कृतिक आधार की उपेक्षा कर उसे धार्मिक पहचान से जोड़ना आगे चलकर हिंदी-उर्दू विवाद को अधिक तीव्र बनाने वाला सिद्ध हुआ। अंग्रेजी शासन ने अपनी 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के अंतर्गत हिंदी और उर्दू दोनों के समर्थक वर्गों को समय-समय पर प्रोत्साहित किया। इससे दोनों भाषाओं के बीच स्वाभाविक संबंधों की अपेक्षा भेद और प्रतिस्पर्धा को अधिक महत्त्व मिला। इसी क्रम में संयुक्त प्रदेश के तत्कालीन शिक्षा सचिव हैवेल ने हिंदी का उपहास करते हुए कहा— **"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी** बोली **में विचार करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"**

इस प्रकार के वक्तव्यों से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन के अनेक अधिकारी हिंदी को स्वतंत्र और समर्थ भाषा के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। सन् 1837 में फारसी को हटाकर उत्तर भारत के अनेक प्रशासनिक क्षेत्रों में उर्दू अथवा हिंदुस्तानी को सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। यद्यपि सरकारी संरक्षण उर्दू को प्राप्त हुआ, फिर भी व्यापक जनसमुदाय का भावनात्मक और व्यावहारिक संबंध हिंदी तथा उसकी लोकबोलियों से बना रहा।

औपनिवेशिक नीतियों के समानांतर भारतीय विद्वानों और समाज-सुधारकों ने भी भाषा-विमर्श को प्रभावित किया। किंतु इन सभी की भाषा -दृष्टि एक समान नहीं थी। सर सैयद अहमद खान उर्दू को भारतीय मुसलमानों की सांस्कृतिक और शैक्षिक पहचान से जोड़कर देखते थे। इसके विपरीत हिंदी समर्थक वर्ग देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को उत्तर भारतीय हिंदुओं की सांस्कृतिक पहचान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रहा था। राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत शब्दावली से युक्त हिंदी का समर्थन किया। उन्होंने हिंदी को हिंदुओं और उर्दू को मुसलमानों की भाषा मानते हुए संस्कृतनिष्ठ हिंदी को अपनाया। उनकी भाषा-दृष्टि हिंदी को अरबी-फारसी प्रभाव से मुक्त करने की आकांक्षा से प्रेरित थी। किंतु अत्यधिक संस्कृतनिष्ठता के कारण उनका भाषा-रूप सामान्य जनता की बोलचाल और व्यवहार से कुछ दूरी ग्रहण कर लेता था। दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने देवनागरी लिपि का समर्थन किया, किंतु भाषा के स्तर पर हिंदी और उर्दू के मिश्रित रूप को अधिक उपयोगी माना। विद्यालयों के निरीक्षक होने के कारण उनकी दृष्टि पर प्रशासनिक और शैक्षिक आवश्यकताओं का भी प्रभाव था। उनकी भाषा में अरबी फारसी शब्दों की पर्याप्त उपस्थिति दिखाई देती है। इस प्रकार राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द भाषा-विवाद के दो भिन्न छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं—एक ओर संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरी ओर अरबी-फारसी मिश्रित हिंदी-उर्दू। इसी विवादपूर्ण परिस्थिति में स्वामी दयानन्द सरस्वती और भारतेन्दु हरिश्चंद्र के प्रयास हिंदी के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। दोनों ने हिंदी को सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय जागरण से जोड़ा, यद्यपि उनकी कार्यभूमि और भाषा-प्रयोग की पद्धति अलग-अलग थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिंदी को व्यापक धार्मिक और सामाजिक संवाद का माध्यम बनाया। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' सहित अनेक रचनाएँ हिंदी में लिखीं। उनकी भाषा के माध्यम से आर्य समाज के सिद्धांत सामान्य जनता तक पहुँचे और हिंदी के प्रति सम्मान की भावना विकसित हुई। आर्य समाज ने हिंदी को उत्तर भारत तक सीमित न रखकर विदेशों में बसे भारतीय समुदायों के बीच भी प्रचारित किया। नैरोबी और जंजीबार जैसे स्थानों पर हिंदी पाठशालाएँ स्थापित की गईं। पंजाब जैसे उर्दू-प्रधान प्रदेश में भी आर्य समाज के प्रभाव से हिंदी बोलने और लिखने को गौरवपूर्ण समझा जाने लगा। स्वामी दयानन्द हिंदी को 'आर्यभाषा' कहते थे। मार्च 1883 में आर्य समाज लाहौर के मंत्री सरदार जवाहर सिंह के पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा— **"तुमने इतनी बड़ी चिट्ठी आर्यभाषा में लिखी, यही हमने तुम्हारी शुद्धि जानी।"**

इस कथन से हिंदी के प्रति स्वामी दयानन्द की निष्ठा और उसके प्रचार की उनकी आकांक्षा स्पष्ट होती है। उनके लिए हिंदी केवल साहित्य की भाषा नहीं, बल्कि धार्मिक सुधार, सामाजिक पुनर्जागरण और सांस्कृतिक एकता का माध्यम थी।

औपनिवेशिक दौर के भाषा-विमर्श में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का आगमन एक निर्णायक घटना के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को गहराई से समझा तथा हिंदी को आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। कहानी, नाटक, निबंध, कविता, आलोचना, अनुवाद और पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने हिंदी साहित्य को विषय, शैली और भाषा—तीनों स्तरों पर नई दिशा प्रदान की। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में एक ओर अपने वर्तमान की समस्याओं के प्रति तीव्र सजगता थी, तो दूसरी ओर भारत के गौरवपूर्ण इतिहास और सांस्कृतिक परंपरा के प्रति गहरी आस्था भी थी। वे भाषा, साहित्य, संस्कृति और समाज के समग्र विकास की कामना करते थे। उनके लिए भाषा केवल विचारों के आदान-प्रदान का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति और राष्ट्रीय अस्मिता की संवाहक थी। इसी कारण उन्होंने 'निज भाषा' की उन्नति पर बल देते हुए लिखा— **'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।'** इस पंक्ति में भारतेन्दु ने मातृभाषा और सामाजिक विकास के अंतर्संबंध को रेखांकित किया। उनके अनुसार अपनी भाषा के विकास के बिना किसी समाज का बौद्धिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय विकास संभव नहीं है। ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, साहित्य और सामाजिक चेतना का व्यापक प्रसार तभी हो सकता है जब उन्हें जनता की अपनी भाषा में उपलब्ध कराया जाए। भारतेन्दु की 'निज भाषा' को न तो राजा लक्ष्मण सिंह की अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ हिंदी के समान माना जा सकता है और न राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की अरबी-फारसी प्रधान मिश्रित शैली के समान। उनकी भाषा-दृष्टि इन दोनों के बीच एक व्यावहारिक मध्य मार्ग प्रस्तुत करती है। भारतेन्दु यह समझते थे कि भाषा का वह रूप, जिसे सामान्य जनता सहज रूप से ग्रहण न कर सके, साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रभावी माध्यम नहीं बन सकता। उन्होंने शिष्ट समाज

और नगरों में प्रचलित उस बहुजन भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के योग्य माना जिसमें संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और लोकभाषाओं से आए प्रचलित शब्द स्वाभाविक रूप से सम्मिलित थे। उनके लिए 'निज भाषा' का अर्थ किसी कृत्रिम रूप से निर्मित शुद्ध भाषा से नहीं था। वह जनता के व्यवहार से निकली, जीवित, गतिशील और संप्रेषणीय भाषा थी। भारतेन्दु के समक्ष हिंदी गद्य की दो प्रमुख शैलियाँ उपस्थित थीं। पहली शैली तत्सम और तद्भव शब्दों पर आधारित संस्कृतनिष्ठ हिंदी थी, जबकि दूसरी शैली में अरबी-फारसी शब्दावली की प्रधानता थी। भाषा में शब्द-प्रयोग की समस्या की ओर संकेत करते हुए उन्होंने अपने निबंध 'हिंदी भाषा' में लिखा— "भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है, कोई कहता है कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए, कोई कहता है कि संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी नहीं हो सकती है।" यह कथन तत्कालीन हिंदी गद्य की अनिश्चित और विवादपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करता है। भारतेन्दु अनुभव कर रहे थे कि साहित्यिक हिंदी का कोई सर्वस्वीकृत रूप अभी निर्मित नहीं हुआ था। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि और वैचारिक आग्रह के अनुसार संस्कृत अथवा अरबी-फारसी शब्दावली का प्रयोग कर रहा था। आगे इसी निबंध में उन्होंने लिखा— "मुझसे कोई अनुमति पूछे तो नंबर 2 और नं. 3 लिखने योग्य है। नंबर 2 में संस्कृत के थोड़े शब्द हैं तथा नं. 3 में संस्कृत शब्दों का लगभग बहिष्कार है। इसमें तद्भव तथा प्रचलित शब्दों को स्थान दिया गया है। इसमें नं. 3 को ही शुद्ध हिंदी की संज्ञा दी है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु प्रचलित, तद्भव और सहज शब्दावली को साहित्यिक भाषा के लिए अधिक उपयुक्त मानते थे। यहाँ 'शुद्ध हिंदी' का अर्थ संस्कृत शब्दों से भरी हुई भाषा नहीं, बल्कि ऐसी स्वाभाविक भाषा है जिसमें प्रचलित शब्दों का प्रयोग हो और जिसे सामान्य पाठक सहज रूप से समझ सके।

भारतेन्दु की भाषा में किसी विशेष स्रोत से आए शब्दों के प्रति कठोर आग्रह या निषेध नहीं मिलता। उनके गद्य में संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय भाषाओं के प्रचलित शब्द प्रसंगानुसार प्रयुक्त हुए हैं। उन्होंने शब्द को उसकी उत्पत्ति के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार करने के स्थान पर उसकी संप्रेषणीयता, प्रसंगानुकूलता और सामाजिक प्रचलन को महत्त्व दिया। उनकी भाषा में 'आनंद' और 'उत्साह' जैसे संस्कृत शब्दों के साथ 'म्यूनिसिपलटी' और 'लंकिलाट' जैसे यूरोपीय अथवा अंग्रेजी मूल के शब्द भी मिलते हैं। कई स्थानों पर वे विदेशी शब्दों का ध्वन्यात्मक रूपांतरण करते हैं और कई स्थानों पर उन्हें लगभग मूल रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यह प्रयोगधर्मिता उनकी भाषा को कृत्रिमता से बचाती है और तत्कालीन सामाजिक जीवन से जोड़ती है। भारतेन्दु ने नाटक और कथा-साहित्य में पात्र, परिस्थिति और सामाजिक स्तर के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया। किसी ग्रामीण पात्र से अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलवाना अथवा किसी अभिजात पात्र को अस्वाभाविक लोकभाषा में प्रस्तुत करना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी भाषा पात्रानुकूल, प्रसंगानुकूल और भावानुकूल है। यही कारण है कि उनके साहित्य में संवादों की जीवंतता और नाटकीयता विशेष रूप से दिखाई देती है। उनकी भाषा-नीति का प्रमुख उद्देश्य हिंदी को संस्कृत अथवा उर्दू का प्रतिरूप बनाना नहीं था। वे संस्कृत और उर्दू के विरोधी नहीं थे, बल्कि साहित्यिक भाषा में दोनों से आवश्यक और प्रचलित शब्द ग्रहण करने के पक्षधर थे। वे केवल इतना चाहते थे कि हिंदी अपनी स्वतंत्र प्रकृति, व्याकरणिक संरचना और लोकाधार को बनाए रखे। इसीलिए उन्हें संस्कृत-विरोधी या उर्दू-विरोधी कहना उचित नहीं है। वे भाषाई अतिवादों के बीच समन्वय और संतुलन के समर्थक थे।

भारतेन्दु की भाषा-दृष्टि केवल मानक खड़ी बोली हिंदी तक सीमित नहीं थी। वे भारत की क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों को जनजीवन तथा जातीय अस्मिता का महत्त्वपूर्ण आधार मानते थे। उनके अनुसार साहित्य का उद्देश्य केवल शिक्षित और शहरी समाज तक सीमित रहना नहीं, बल्कि सामान्य जनता तक पहुँचना भी है। इसके लिए लोकभाषाओं, स्त्रियों की बोलचाल और क्षेत्रीय अभिव्यक्ति-शैलियों को साहित्य में उचित स्थान देना आवश्यक है। उन्होंने लिखा— "इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बने वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो—और सब देश की भाषाओं में इसी भाँति हो अर्थात पंजाब में पंजाबी, बुंदेलखंड में बुंदेलखंडी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिनमें निज भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।" इस कथन में भारतेन्दु की व्यापक जनोन्मुख दृष्टि प्रकट होती है। वे यह स्वीकार करते हैं कि भारत जैसे बहुभाषी देश में राष्ट्रीय चेतना का प्रसार केवल एक मानकीकृत साहित्यिक भाषा के माध्यम से नहीं किया जा सकता। अलग-अलग क्षेत्रों की जनता तक पहुँचने के लिए वहाँ की स्थानीय भाषा और बोली का प्रयोग आवश्यक है। वे ग्रामीण भाषा और स्त्रियों की बोलचाल को भी साहित्यिक अभिव्यक्ति के योग्य मानते हैं। यह दृष्टिकोण औपनिवेशिक भाषा-विमर्श के संदर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। उस समय जब भाषा को धार्मिक और जातीय पहचान की संकीर्ण सीमाओं में बाँटने का प्रयास हो रहा था, भारतेन्दु भाषाई विविधता को स्वाभाविक और सम्माननीय मान रहे थे। वे भाषाओं और बोलियों के बीच संघर्ष नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग और संप्रेषण की संभावना देखते थे।

भारतेन्दु के भाषा-चिंतन में 'जातीयता' का अर्थ किसी एक धार्मिक समुदाय की संकीर्ण पहचान नहीं था। उनके लिए भाषा भारतीय समाज की ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक अनुभव और सामूहिक चेतना की वाहक थी। वे लोकभाषाओं और जनभाषाओं को राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका विश्वास था कि जनता की भाषा में रचित साहित्य ही व्यापक सामाजिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का आधार बनाने के कारण भारतेन्दु युग का साहित्य जनसमाज में अधिक ग्राह्य हुआ। उनके साहित्य में उपस्थित व्यंग्य, परिहास, चुटकुलेबाजी, मुहावरेदारी और जीवंतता का संबंध उनके भाषा-प्रयोग से है। उन्होंने भाषा को अभिजात और पांडित्यपूर्ण बंधनों से मुक्त कर सामाजिक जीवन के निकट लाने का प्रयास किया। भारतेन्दु की रचनाओं में भाषा राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का माध्यम बनती है। औपनिवेशिक शोषण, आर्थिक दुर्दशा, सामाजिक रूढ़ियों और सांस्कृतिक पराधीनता के विरुद्ध उनके विचार जनता की परिचित भाषा में व्यक्त हुए। इसी कारण उनका साहित्य केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक चेतना का अंग बन सका। उनका देश-प्रेम और भाषा-प्रेम परस्पर संबद्ध था। वे ज्ञान-विज्ञान के भंडार को 'निज भाषा' में उपलब्ध कराने के लिए प्रयत्नशील थे। उनका मानना था कि विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त ज्ञान सीमित वर्ग तक ही पहुँच सकता है, जबकि अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा और ज्ञान का लोकतंत्रीकरण संभव है। अतः 'निज भाषा' की उन्नति उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता और मानसिक मुक्ति की पूर्व शर्त थी। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने समय के अनेक लेखकों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। उनके संपर्क में आए साहित्यकारों का समूह आगे चलकर 'भारतेन्दु मंडल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मंडल के साहित्यकारों ने कहानी, नाटक, निबंध, कविता, आलोचना, पत्रकारिता और अनुवाद के माध्यम से हिंदी को आधुनिक विषयों की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया।

भारतेन्दु मंडल की भाषा सामान्यतः सरल, प्रवाहपूर्ण, व्यंग्यात्मक और सामाजिक जीवन से संबद्ध थी। इस मंडल के साहित्यकारों ने हिंदी में इतिहास, समाज, धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीयता से संबंधित प्रश्नों पर लेखन किया। इस प्रकार हिंदी केवल धार्मिक आख्यानों और काव्य की भाषा न रहकर आधुनिक सार्वजनिक विमर्श की भाषा बनी। पत्र-पत्रिकाओं ने इस प्रक्रिया में विशेष भूमिका निभाई। पत्रकारिता के माध्यम से भाषा का संबंध तत्कालीन घटनाओं, जनसमस्याओं और राजनीतिक चेतना से स्थापित हुआ। भारतेन्दु और उनके मंडल ने हिंदी को सार्वजनिक संवाद की भाषा बनाकर उसके सामाजिक आधार का विस्तार किया। भारतेन्दु मंडल का भाषा-चिंतन स्वयं भारतेन्दु की समन्वयवादी दृष्टि से प्रेरित था। इस साहित्य में संस्कृत, अरबी-फारसी, अंग्रेजी और लोकभाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग मिलता है। भाषा को किसी कठोर व्याकरणिक अथवा सांप्रदायिक सीमा में बाँधने के स्थान पर उसे सामाजिक उपयोगिता और साहित्यिक प्रभाव के आधार पर विकसित किया गया।

भारतेन्दु का भाषा-चिंतन अपने समय की जटिल परिस्थितियों में विकसित हुआ था। इसलिए उसमें कुछ अंतर्विरोध भी दिखाई देते हैं। वे खड़ी बोली हिंदी के गद्य-रूप को विकसित कर रहे थे, किंतु काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा की प्रतिष्ठा को स्वीकार करते थे। उस समय यह धारणा व्यापक थी कि खड़ी बोली में प्रभावशाली काव्य-रचना संभव नहीं है। स्वयं भारतेन्दु की अनेक कविताएँ ब्रजभाषा में हैं। फिर भी यह स्थिति उनकी भाषा-दृष्टि की कमजोरी मात्र नहीं मानी जा सकती। यह हिंदी के संक्रमणकालीन स्वरूप का संकेत है, जब गद्य में खड़ी बोली अपना स्थान बना रही थी, जबकि कविता में ब्रजभाषा की दीर्घ परंपरा अभी प्रभावी थी। भारतेन्दु ने इसी संक्रमण के बीच आधुनिक हिंदी गद्य की आधारभूमि तैयार की। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने भाषा के प्रश्न को जनता, समाज और राष्ट्रीय विकास से जोड़ा। वे भाषा की शुद्धता से अधिक उसकी संप्रेषणीयता के पक्षधर थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि कोई भी जीवित भाषा विभिन्न भाषाओं और बोलियों के संपर्क से विकसित होती है। इसलिए शब्दों के स्रोत के आधार पर उनका बहिष्कार करना भाषा की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया को बाधित करना है। भारतेन्दु ने हिंदी को संस्कृत और उर्दू दोनों से आवश्यक शब्द ग्रहण करने की स्वतंत्रता दी, किंतु साथ ही उसकी स्वतंत्र पहचान की रक्षा पर भी बल दिया। वे संस्कृत या उर्दू के विरोधी नहीं थे; वे हिंदी को संस्कृत या उर्दू में विलीन कर देने के विरोधी थे। उनका प्रयास हिंदी को ऐसी आधुनिक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करना था जो ज्ञान-विज्ञान, पत्रकारिता, नाटक, निबंध और सामाजिक विचार-विमर्श के लिए समान रूप से समर्थ हो |

इस प्रकार हम देखते हैं कि औपनिवेशिक भारत का भाषा-विमर्श सत्ता, प्रशासन, धर्म, शिक्षा, जातीयता और सांप्रदायिक पहचान से गहराई से जुड़ा हुआ था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण भारतीय भाषाओं के अध्ययन और प्रयोग को प्रोत्साहित किया, किंतु उसकी भाषा-नीतियों ने हिंदी और उर्दू के बीच विद्यमान अंतर को सांप्रदायिक विभाजन का रूप देने में भी भूमिका निभाई। फोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ, फारसी के स्थान पर नई प्रशासनिक भाषाओं की स्थापना और शिक्षा-संबंधी नीतियाँ इस विमर्श के प्रमुख आधार बने। राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थन किया, जबकि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने हिंदी-उर्दू की मिश्रित शैली को महत्त्व दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज ने हिंदी को धार्मिक-सामाजिक जागरण तथा सांस्कृतिक गौरव से जोड़ा। इन विभिन्न प्रवृत्तियों के मध्य भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भाषा के प्रश्न पर संतुलित, समन्वयकारी और जनोन्मुख दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। भारतेन्दु की 'निज भाषा' किसी संकीर्ण धार्मिक अथवा जातीय समुदाय की भाषा नहीं थी। वह सामान्य जनता की सहज, प्रचलित और संप्रेषणीय भाषा थी। उन्होंने संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और लोकभाषाओं से आए शब्दों को प्रसंग तथा आवश्यकता के अनुसार स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में साहित्यिक भाषा वही थी जो जनता के जीवन, अनुभव और भावनाओं को स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त कर सके। उन्होंने क्षेत्रीय बोलियों, ग्रामीण अभिव्यक्तियों और स्त्रियों की भाषा को भी साहित्य और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का समर्थ माध्यम माना। इस प्रकार उनकी भाषा-दृष्टि भारतीय भाषाई विविधता के सम्मान पर आधारित थी। वे न तो संस्कृत के विरोधी थे और न उर्दू के; वे भाषाई अतिवाद और कृत्रिमता के विरोधी थे। भारतेन्दु ने हिंदी गद्य को परिष्कृत, जीवंत और आधुनिक बनाया तथा उसे पत्रकारिता, नाटक, निबंध, आलोचना और सामाजिक विचार-विमर्श की समर्थ भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने 'निज भाषा' के माध्यम से सांस्कृतिक आत्मबोध, राष्ट्रीय चेतना और ज्ञान के लोकतंत्रीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। इसलिए औपनिवेशिक दौर के भाषा-संबंधी विमर्श में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का योगदान केवल आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माण तक सीमित नहीं है; उनका भाषा-चिंतन भारतीय जातीय अस्मिता, सांस्कृतिक स्वाधीनता और आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के विकास का भी महत्त्वपूर्ण आधार है।

*****

संदर्भ :-

1.प्रभाकर, विष्णु, भारतीय साहित्य के निर्माताः स्वामी दयानन्द सरस्वती, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करणः2005, पृष्ठ-74
2.गुप्त, डॉ.लक्ष्मीनारायण, हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण: 1961 पृष्ठ-51
3.युधिष्ठिर, मीमांसक, सम्पादक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन भाग-2;पृष्-672
4.शुक्ल, केशरी नारायण, भारतेन्दु के निबंध, सरस्वती मंदिर बनारस, संस्करण:2008 वि..पृष-64
5.वही, पृष्ठ-64
6.दास, ब्रजरत्न, सम्पादक भारतेन्दु ग्रंथावली. 'तीसरा भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, 2010 वि.पृष्ठ-935